जैनदर्शनमें प्रमाण और नय*

व्याकरणके अनुसार दर्शनशब्द 'दृश्यते=निर्णीयते वस्तुतत्वमननेनेति दर्शनम्' अथवा 'दृश्यते निर्णीयत इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्, इन दोनों व्युत्पत्तियोंके आधारपर दृश् धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षात्मरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधाराके द्वारा निर्णीत तत्त्वोंकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार दर्शनशब्द दार्शनिक जगत्में इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न मतोंकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें हैं उनको और जिन तार्किक मुद्दोंके आधारपर उन मान्यताओंका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोंको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहले दर्शनोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमें हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोंमें हुआ है वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये हैं। भारतीय दर्शन भी दो भागोंमें विभक्त हो जाते हैं—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो वेदपरम्पराके पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने जाते हैं और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन हैं उनका समावेश अवैदिक दर्शनोंमें होता है। इस सामान्य नियमके आधारपर वैदिक दर्शनोंमें मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते हैं और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन अवैदिक दर्शन ठहरते हैं।

वैदिक और अवैदिक दर्शनोंको दार्शनिक मध्यकालीन युगमें क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोंसे भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम पड़ता है कि इनका यह नामकरण साम्प्रदायिक व्यामोहके कारण वेद-परम्पराके समर्थन और विरोधके आधारपर प्रशंसा और निन्दाके रूपमें किया गया है। कारण, यदि प्राणियों के जन्मान्तररूप परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकलकर आस्तिक दर्शनोंकी कोटिमें आ जायेंगे, क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी मान्यताको स्वीकार करते हैं। और यदि जगत्का कर्ता अनादिनिधन ईश्वरको न मानने रूप अर्थमें नास्तिकशब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमांसा दर्शनोंको भी आस्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकालकर नास्तिक दर्शनोंकी कोटिमें रख देना पड़ेगा; क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादिनिधन ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेसे इन्कार करते हैं। 'नास्तिको वेद-निन्दकः' इत्यादि वाक्य भी हमें यह बतलाते हैं कि वेदपरम्पराको न माननेवालों या उसका विरोध करने-वालोंके बारेमें ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें अपनी परम्पराके मानने-वालोंको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोंको नास्तिक कहा गया है। जैनसम्प्रदायमें जैनपरम्पराके माननेवालोंको सम्यग्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनोंका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंके रूपमें विभाग किया जाता है वह निरर्थक एवं अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोंमेंसे एक-दो दर्शनोंको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनोंका साहित्य काफी विशालताको लिये हुए पाया जाता है। जैनदर्शनका साहित्य भी काफी विशाल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दर्शनकारोंने समानरूपसे जैनदर्शनके साहित्यकी समृद्धिमें काफी हाथ बटाया है। दिगम्बर

* डॉ० कोठिया द्वारा सम्पादित न्यायदीपिकागत प्राक्कथन, १९४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नहीं, आगमिक है। इसलिये इन दोनोंके दर्शन-साहित्यकी समृद्धिके धारावाहिक प्रयासमें कोई अन्तर नहीं आया है।

दर्शनशास्त्रका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूपव्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिये जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्तकी मान्यता) है। अनेकान्तका अर्थ है—परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनोंमें वस्तुको सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमें वस्तुको सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शनकी यह सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वयको सूचित करती है।

वस्तुकी इस अनेकधर्मात्मकताके निर्णयमें साधक प्रमाण होता है। इसलिये दूसरे दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें भी प्रमाण-मान्यताको स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनोंमें जहाँ कारकसाकल्यादिको प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शनमें सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थके निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है, क्योंकि ज्ञप्ति-क्रियाके प्रति जो करण हो उसीका जैनदर्शनमें प्रमाणनामसे उल्लेख किया गया है। ज्ञप्तिक्रिया-के प्रति करण उक्त प्रकारका ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नहीं, कारण कि क्रियाके प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूपसे साधक कारणको ही व्याकरणशास्त्रमें करणसंज्ञा दी गयी है[1] और अव्यवहितरूपसे ज्ञप्तिक्रियाका साधक उक्त प्रकारका ज्ञान ही है। कारकसाकल्यादि ज्ञप्तिक्रियाके साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूपसे साधक नहीं हैं, इसलिये उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है।

प्रमाण-मान्यताको स्थान देनेवाले दर्शनोंमें कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाणको, कोई प्रत्यक्ष और अनु-मान दो प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणोंको और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको मानते हैं। कोई दर्शन एक सम्भव नामके प्रमाणको भी अपनी प्रमाणमान्यतामें स्थान देते हैं। परन्तु जैनदर्शनमें प्रमाणकी इन भिन्न-भिन्न संख्याओंको यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूलमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाणके स्वीकार किये गये हैं। प्रत्यक्षके अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों और मनका साहाय्य होनेके कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षिवन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके भेद अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको जैनदर्शनमें देशप्रत्यक्ष संज्ञा दी गई है। कारण कि इन दोनों ज्ञानोंका विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञानको सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है, क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत्के सपूर्ण पदार्थ अपने-अपने त्रिकालवर्ती विवर्तों सहित इसकी विषयकोटिमें एक साथ समा जाते हैं। सर्वज्ञमें केवलज्ञाननामक इसी सकलप्रत्यक्षका सद्भाव स्वीकार किया गया है। अतीन्द्रियप्रत्यक्षको परमार्थप्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षको सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष

१. 'साधकतमं करणम्।' —जैनेन्द्रव्याकरण १।२।११३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञानको आत्माका स्वभाव या गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रियप्रत्यक्ष इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्ररूपसे आत्मामें उद्भूत हुआ करते हैं, इसलिये इन्हें परमार्थ संज्ञा दी गई है और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्तिमें इन्द्रियाधीन हैं, इसलिये वास्तवमें इन्हें प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अतः लोकव्यवहारकी दृष्टिसे ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तवमें तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको भी परोक्ष ही कहना उचित है। फिर जब ये प्रत्यक्ष पराधीन हैं तो इन्हें परोक्ष प्रमाणोंमें ही अन्तर्भूत क्यों नहीं किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो, परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञानको परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहों इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षों (सांव्यवहारिकप्रत्यक्षों)में प्रत्येककी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थायें स्वीकार की गयी हैं। अवग्रह—ज्ञानकी उस दुर्बल अवस्थाका नाम है जो अनन्तरकालमें निमित्त मिलनेपर विरुद्ध नानाकोटि विषयक संशयका रूप धारण कर लेती है और जिसमें एक अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। संशयके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटिविषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञानका नाम ईहा माना गया है। और ईहाके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञानका नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तरमें होनेवाली स्मृतिका कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कहीं जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुषको सामने पाकर उसके बारेमें "यह पुरुष है" इस प्रकारका ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञानकी दुर्बलता इसीसे जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तरकालमें निमित्त मिल जानेपर "वह पुरुष है या ठूंठ" इस प्रकारके संशयका रूप धारण कर लिया करता है। यह संशय अपने अनन्तरकालमें निमित्तविशेषके आधारपर 'मालूम पड़ता है कि यह पुरुष ही है' अथवा 'उसे पुरुष ही होना चाहिये' इत्यादि प्रकारसे ईहाज्ञानका रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहाज्ञान ही अपने अनन्तर समयमें निमित्तविशेषके बलपर 'वह पुरुष ही है' इस प्रकारके अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है। यही ज्ञान नष्ट होनेसे पहले कालान्तरमें होनेवाली 'अमुक समयमें अमुक स्थानपर मैंने पुरुषको देखा था' इस प्रकारकी स्मृतिमें कारणभूत जो अपना संस्कार मस्तिष्कपर छोड़ जाता है उसीका नाम धारणा-ज्ञान जैनदर्शनमें माना गया है। इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष (सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष) भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न निमित्तोंके आधारपर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपोंको धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मनसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानमें सम्भव हुआ करते हैं। जैन-दर्शनमें प्रत्यक्षप्रमाणका स्पष्टीकरण इसी ढङ्गसे किया गया है।

जैनदर्शनमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमेंसे धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञानविशेषका नाम स्मृति है। स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थोंके एकत्व अथवा सादृश्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थोंके अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिका ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधनसे साध्यका ज्ञान अनुमान माना गया है। इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है' ऐसा निर्णय हो जानेके बाद ही श्रोता किसी शब्दको सुनकर उसके अर्थका ज्ञान कर सकता है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्षप्रमाण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षजन्य है। बस, सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणमें इतना ही अन्तर है।

जैनदर्शनमें शब्दजन्य अर्थज्ञानको आगमप्रमाण माननेके साथ-साथ उस शब्दको भी आगमप्रमाणमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शनमें आगमप्रमाणके दो भेद मान लिये गये हैं—एक स्वार्थ-प्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही हैं। परन्तु एक आगमप्रमाण ही ऐसा है, जिसे स्वार्थप्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है। शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप है। लेकिन शब्दमें चूँकि ज्ञानरूपताका अभाव है इसलिये वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे दो या दोसे अधिक पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं और दो या दोसे अधिक वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं, दो या दोसे अधिक महावाक्योंके समूहको भी महावाक्यके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि परार्थप्रमाण एक सखण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाणके जो खण्ड हैं उन्हें जैनदर्शनमें नयसंज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जैनदर्शनमें वस्तुस्वरूपके व्यवस्थापनमें प्रमाणकी तरह नयोंको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नयोंका लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिये—

"वक्ताके उद्दिष्ट अर्थका पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्तासे उद्दिष्ट अर्थके अंशका प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्यको नयसंज्ञा दी गयी है।"

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय वचनरूप हैं और चूँकि वस्तुनिष्ठ सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर-विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है, इसलिए इनके आधारपर जैनदर्शनका सप्तभंगीवाद कायम होता है। अर्थात् उक्त सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तुके प्रतिपादनमें उक्त परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय सात रूप धारण कर लिया करते हैं।

प्रमाणवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं

सत्व और असत्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका पहला रूप है। असत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका दूसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका तीसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एकसाथ) वस्तुका प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये अवक्तव्य नामका चौथा रूप प्रमाणवचनका निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादन-की असम्भवताके साथ-साथ असत्वमुखेन भी वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका छठा रूप बन जाता है। और उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शनमें इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं

वस्तुके सत्व और असत्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है। असत्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है। उभयधर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचनका तीसरा रूप है और चूँकि उभयधर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये इस तरहसे अवक्तव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामका चौथा रूप नयवचनका निष्पन्न होता है। नयवचनके पाँचवें, छठे और सातवें रूपोंको प्रमाणवचनके पाँचवें, छठे और सातवें रूपोंके समान समझ लेना चाहिये। जैनदर्शनमें नयवचनके इन सात रूपोंको नयसप्त-भंगी नाम दिया गया है।

इन दोनों प्रकारकी सप्तभंगियोंमें इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब सत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके सत्वधर्मका प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तुकी असत्वधर्मविशिष्टताको अथवा वस्तुके असत्वधर्मको अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके असत्वधर्म-का प्रतिपादन करते समय वस्तुकी सत्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुके सत्वधर्मके बारेमें समझना चाहिये। इस प्रकार धर्मोंकी विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता) के स्पष्टीकरणके लिये स्याद्वाद अर्थात् स्यात्की मान्यताको भी जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। स्याद्वादका अर्थ है—किसी भी धर्मके द्वारा वस्तुका अथवा वस्तुके किसी भी धर्मका प्रतिपादन करते समय उसके अनुकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्यको लक्ष्यमें रखना। और इस तरहसे ही वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुमें विरुद्ध धर्मका अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकारके स्याद्वादको नहीं अपनाया जायगा, तो वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टताका अथवा वस्तुमें विरोधी धर्मका अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरहसे अनेकान्तवादका भी जीवन समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शनके अनूठे सिद्धान्त हैं। इनमेंसे एक प्रमाणवादको छोड़कर बाकीके चार सिद्धान्तोंको तो जैनदर्शनकी अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारों सिद्धान्त जैनदर्शनकी अपूर्वता एवं महत्ताके अतीव परिचायक हैं। प्रमाणवादको यद्यपि दूसरे दर्शनोंमें स्थान प्राप्त है परन्तु जिस व्यवस्थित ढंग और पूर्णताके साथ जैनदर्शनमें प्रमाणका विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनोंमें नहीं मिल सकता है। मेरे इस कथनकी स्वाभाविकताको जैनदर्शनके प्रमाणविवेचन-के साथ दूसरे दर्शनोंके प्रमाणविवेचनका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् सहज ही समझ सकते हैं।

एक बात जो जैनदर्शनकी यहाँ पर कहनेके लिये रह गई है वह है सर्वज्ञतावादकी, अर्थात् जैनदर्शनमें सर्वज्ञतावादको भी स्थान दिया गया है और इसका कारण यह है कि आगमप्रमाणका भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञताके संभव नहीं है। कारण कि प्रत्येक दर्शनमें आप्तका वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवंचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवंचकताकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें सर्वज्ञताका सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

जैनदर्शनमें इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्यात् और सर्वज्ञताकी मान्यताओंको गंभीर और विस्तृत विवेचनके द्वारा एक निष्कर्षपर पहुँचा दिया गया है। न्यायदीपिकामें श्रीमदभिनव धर्मभूषणयतिने इन्हीं विषयोंका सरल और संक्षिप्त ढंगसे विवेचन किया है और श्री पं० दरबारीलाल कोठियाने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवादसे सुसंस्कृत बनाकर सर्वसाधारणके लिये उपादेय बना दिया है। प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणों द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। आपने न्यायदीपिकाके कठिन स्थलोंका भी परिश्रमके साथ स्पष्टीकरण किया है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org